



ISSN Print: 2394-7500  
 ISSN Online: 2394-5869  
 Impact Factor: 5.2  
 IJAR 2019; 5(2): 147-149  
 www.allresearchjournal.com  
 Received: 06-01-2019  
 Accepted: 13-02-2019

**बलराम कुमार**  
 शोधार्थी, विश्वविद्यालय-हिन्दी-  
 विभाग, ल०ना० मिथिला  
 विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार,  
 भारत

## दिवाकर के उपन्यासों में मानवतावाद

**बलराम कुमार**

**सारांश**

अपनी कहानियों के समान ही दिवाकर के उपन्यासों के मूल में गाँव है। गाँव में बढ़ रहे शहर का प्रभाव और उस प्रभाव से हो रहे गाँव में परिवर्तन को रेखांकित करते उनके अधिकांश उपन्यास गाँव की सामाजिक एवं आर्थिक विसंगतियों को उभारने का प्रयास करते हैं।

**प्रस्तावना**

रामधारी सिंह दिवाकर आठवें दशक के कथाकारों में उल्लेखनीय हैं। इनके तेरह कहानी-संग्रहों और सात उपन्यासों में ग्रामीण-जीवन के संघर्षों का यथार्थपरक चित्रण हुआ है। इन्होंने बिहार के बदलते हुए गाँवों को अपनी कहानियों और उपन्यासों का विषय बनाया। उनकी कहानियों में जातीय-संघर्ष, वर्ग-संघर्ष और बदलते हुए गाँवों की पीड़ा का चित्रण बड़ी प्रामाणिकता के साथ हुआ है।

उपन्यास में बिम्बों एवं प्रतीकों से सजी गतिवान भाषा में संवेदना, आवेग और चरित्रों को अभिव्यक्त करने की अद्भुत शक्ति है। भीतरी घाव, खुली नहीं, तटबंध वाली नदी, डोमकौआ, कुड़ाकुल पक्षी, खजूर के पेड़ आदि फसल प्रतीक उपन्यास को शक्तिशाली बनाते हैं।

क्या घर क्या परदेश' दिवाकर जी का प्रथम प्रकाशित उपन्यास है। इस उपन्यास में गाँव अपनी समूची आर्थिक एवं सामाजिक विसंगतियों के साथ उभरकर सामने आया है। इस उपन्यास में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि किस प्रकार ईमानदार व्यक्ति को परिस्थितियों के वात्स्यायक में फँसकर हर स्तर पर लाचार होकर टूटना पड़ता है या फिर वह हर गलत-सही तत्वों से समझौता करने के लिए मजबूर दिखता है। इस प्रकार प्रकारान्तर से वह उसी तंत्र का अदना-सा पुर्जा बनकर रह जाता है, जो शोषण-प्रक्रिया का जन्मदाता होता है और उसे गतिशील भी बनाये रखता है।

आज की बदली हुई परिस्थिति में गाँव की स्थिति ऐसी बनकर रह गयी है कि अपने ही खेत में अपने हाथों से खेती करने वाला व्यक्ति हेय दृष्टि से देखा जाता है। दूसरी ओर येन-केन प्रकारेण पैसा बटोरने वाले भ्रष्ट चरित्र समाज के लिए आदरणीय एवं आदर्श बन गये हैं। आज बस पैसा, मात्र पैसा ही सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार बन गया है। "ईमानदारी से जीने की कोशिश एक अहमकथ्यन है और वही सफल है जो तिकड़म करके पैसा बनाना जानता है। यह सच्चाई सिर्फ शहर के जीवन की नहीं, गाँव के जीवन में भी हर जगह उजागर हो गई है। 'क्या घर क्या परदेश' में रामधारी सिंह दिवाकर जी ने इसी सच्चाई को कौशल और उसके परिवार की कथा-व्याथा के माध्यम से कहने का प्रयास किया है [1]।"

आत्मकथा शैली में लिखे गये इस उपन्यास का कथानक ग्रामीण परिवेश और ग्रामीण मानसिकता के साथ जुड़ा हुआ है। उपन्यास का नायक परिस्थितियों से समझौता नहीं कर पाने के कारण परदेश की राह नापता है, लेकिन विडम्बना यह है कि उसे परदेश में भी इसी व्यवस्था के दबाव से जूझना पड़ता है। शोषण की प्रक्रिया वहाँ भी मौजूद है। ईमानदार और नैतिक चरित्र वाले व्यक्ति को समाज में किस प्रकार और क्यों घुट-घुट कर जीना पड़ता है- इस उपन्यास में ऐसे ही कुछ प्रश्नों को उभार कर उसके उत्तर तलाशने की कोशिश की गई है।

उपन्यास का नायक कौशल निम्न वित्त परिवार का एक पढ़ा-लिखा नौजवान है। पढ़ाई करने के उपरांत एक लम्बे अरसे तक वह नौकरी की तलाश में भटकता रहता है, पर उसे नौकरी नहीं मिलती। इस क्रम में धीरे-धीरे उसे इस बात का एहसास होते चलता है कि प्रांतीय घटकों में नौकरी के लिए जातिवाद, वंश-कुल से जुड़े संबंधों की आवश्यकता होती है या नौकरी पाने के लिए फिर कोई ऐसी राजनैतिक सुगमता अनिवार्य है। दुर्भाग्यवश इन दोनों से कौशल की दूर से भी कहीं से संबद्धता नहीं रहती। अतः उसे भटकना पड़ता है। अपनी बेकारी के दौर में वह ग्रामीण समाज की वास्तविकता से परिचित हो जाता है। बीमार बाप, बूढ़ी माँ, विधवा बहन और उसकी बेटी का एक मात्र सहारा कौशल, जो परिवार की घोर गरीबी के बाबजूद जैसे-तैसे बी. ए. तक पढ़ पाता है और फिर इन जातिवादी, वंशवादी एवं राजनीतिक कुचक्र में पिसकर वह नौकरी पाने में असमर्थ है,

**Correspondence Author:**

**बलराम कुमार**  
 शोधार्थी, विश्वविद्यालय-हिन्दी-  
 विभाग, ल०ना० मिथिला  
 विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार,  
 भारत

अन्ततः गाँव छोड़कर शहर (दिल्ली) जाने का फैसला कर लेता है। दिल्ली पहुँचकर वह नौकरी की तलाश में भटकता रहता है। यहाँ भी नौकरी उसे मरीचिका लगती है—“एक पत्रिका के पेट में अपने सर्टिफिकेट दबाये मैं एक दफ़्तर से दूसरे दफ़्तर घूमा करता था। उधर अखबारों में केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा रोज़ घोषणाएँ पढ़ने को मिल रही थीं— शिक्षित बेरोजगारों, गरीबों, भूमिहीनों, गृह—विहीनों, आदिवासियों, दलितों वगैरह की बाबत ऐसी आकर्षक योजनाओं को मैं पढ़ता और स्वयं को देखकर मुस्कुराने लगता <sup>[2]</sup>।” हताशा के दौर में अपना खून बेचकर वह गुजारा करने को मजबूर होता है और उचाभार—सा व्यक्त करता है— “उन दिनों महानगर की उदारता का मैं शुक्र—गुजार हुआ था कि ऐसी—ऐसी जगहें भी यहाँ हैं।” अपने क्षेत्र के सांसद की सिफारिश से उसे एक नौकरी मिलती है— अखबार के दफ़्तर में, वह भी कि उस नौकरी के लिए ‘साक्षर होना ही काफी था <sup>[3]</sup>।” इस नौटंकी के दौरान वह मतिभ्रम में भटकता है जैसे उसके गाँव के चरित्रहीन संतसेवीजी और दूसरे लोग उसे कटघड़े में खड़ाकर उसका मखौल उड़ाने लगते हैं। पर धीरे—धीरे उसके आगे वह मायावी तिलिस्म खुलने लगता है। राजनीति, पंचनीति, कामनीति और षडयंत्र। और वहाँ रहकर वह इन चीजों का सामना नहीं कर पाता और अन्ततः गाँव लौट आता है। उसके पाँव वहाँ जम नहीं पाते क्योंकि वह ईमानदारी से जीना चाहता है। गाँव में मरणासन्न पिता, आर्थिक संकट और तमाम आसन्न संकट है।

कौशल गाँव में देखता है कि उसके चाचा नूनू बाबू ठेके, कॉर्पोरेटिव आदि की तिकड़म करके सुख चैन की जिन्दगी जी रहे हैं। वहीं दलित युवा नेता रामलगन ‘दलित सांसद’ के नाम पर कई धंधे चला रहा है। मैट्रिक तक पढ़े लड़के किसी न किसी लूट के धंधे में लगकर मजा ले रहे हैं।

गाँव के चबूतरे पर बैठने वाला मिखारी रामदास सबके कारनामों का साक्षी होता है। वह जानता है कि सखीचन्द सरकारी स्टोर का सामान बेचकर टाठ की जिन्दगी बिताता है। संतसेवी ने कृष्णा की माँ की डेढ़ बीघा जमीन हथिया रखी है और उसे पंचायत या कोर्ट कचहरी से न्याय नहीं मिलेगा। नूनू चाचा कौशल को बार—बार याद दिलाता है कि पढ़ने—लिखने से कुछ नहीं होता और पैसा कमाने की योग्यता ही सबसे बड़ी योग्यता है। पैसा कमाने का सुअवसर कौशल को भी मिलता है, किन्तु उसके साथ शर्त लगी होती है कि वह दलित सांसद की रखैल की बेटे से शादी करले।

प्रस्तुत उपन्यास का प्रतिपाद्य असलियत के खौफनाक चेहरे की निर्मिति के लिए उत्तरदायी भौतिक शक्तियों को जानना, वे भौतिक शक्तियाँ जो न जाने किन—किन दुरभि संधियों के आचरणगत मूल्यों की अपने अनुरूप व्याख्या देती है— उससे परिचित होना रहा है। यह एक तरह से यथार्थ के बाहरी परिवेश की स्थिति के भीतरी रूप को जानना है। यह यथार्थ अर्थात् एक ग्राम समाज में कुल संस्कारों के अवशेष ढोता हुआ विपन्न परिवार और उसका सुशिक्षित एक मात्र सहारा नवयुवक कौशल ही नहीं, बल्कि युवक के सपनों पर आधिपत्य रखने वाले कुचक्रों का अन्तर्यथार्थ है— जो सामान्य रूप से औसत भारतीय की जिन्दगी को ‘कीलित’ किये हुए है। अतः भौगोलिक रूप से बिहार में पिछड़े गाँव, शहर, महानगर, दिल्ली जैसी स्थानिक संज्ञाएँ ही इस उपन्यास की सीमा नहीं, अपितु यह एक प्रकार से उस सार्वजनिक स्थिति को अपने में समेटता है जो सर्वत्र विद्यमान है और हम खुली आँखों से उसे देखते हैं।

‘काली सुबह का सूरज’ दिवाकरजी द्वारा प्रस्तुत एक लघु उपन्यास है। गाँव की पृष्ठभूमि पर लिखे गये इस उपन्यास में दिवाकरजी ने गाँव—शहर के द्वन्द्व को बड़ी सहजता के साथ उकेरा है।

गाँव—जबार में जीने वालों की सहजता और निष्कपट संबंधों के बीच एक अन्तर्निहित संवेदना काम करती है, जो परिवार—मुहल्ले को आपस में जोड़ती है और यही उनकी धरोहर है। आज

पढ़े—लिखे लोग गाँव को छोड़कर शहर में जाकर बसते रहे हैं। शहर की रौनक, मात्र भाग—दौड़ और एक दूसरे से चढ़बढ़कर जीने की प्रतिब (ता में ऐसे लोग संबंध से निश्छल निर्वाह और आत्मीयता से कटते चले जाते हैं और स्वार्थ, ईर्ष्या और झूठ के जंजाल में फंसते चले जाते हैं। यह शहर—नगर का अभिशाप है। ‘पंचमी तत्पुरुष’ दिवाकर का तीसरा उपन्यास है, जिसमें आज के ग्रामीण यथार्थ का चित्रण लेखन के चालू फैशन से अलग हट कर किया गया है। जनवाद आज कुछ लेखकों के लिए एक फैशन—सा हो गया है, जिसके चलते ग्रामीण यथार्थ के नाम पर भू—स्वामी और खेत मजदूरों के संघर्ष की फार्मूला लेकर कहानियाँ लिखी जाती हैं। उनमें सारा जोर चूँकि समाज को बदलने पर रहता है इसलिए यह चीज अक्सर छूट जाती है कि समाज कुछ अपने—आप भी बदल रहा है। समाज के सामंती ढाँचे को तोड़ने के लिए उद्यत चरित्रों की सृष्टि करने के उत्साह में यह बात अनदेखी रह जाती है। वह ढाँचा खुद भी टूट रहा है। यही कारण है कि ऐसे फैशनेबुल जनवादी लेखन में झूठी शान, कर्ज और मुकदमेबाजी में फंसे, स्वयं ही जर्जर होते सामंती परिवार प्रायः देखने को नहीं मिलते। दूसरी तरफ ऐसे हलवाहे भी नहीं देखने को मिलते जो पंजाब या किसी दूसरी जगह की कमाई के बल पर न केवल अपने ‘मालिकों’ को कर्ज देते हैं, बल्कि उनकी रेहन रखी गई जमीन को कभी—कभी खुद खरीद लेते हैं। ‘पंचमी तत्पुरुष’ उपन्यास में ऐसी स्थितियाँ अनायास ही देखने को मिल जाती हैं।

एक चुनौती सा है— “इज्जत आप लोगों के लिए है। हमलोग तो एकदम सड़क के आदमी। जी लगेगा तो रहेंगी अपने घर वाले के साथ..... सताएगा जो हम भी सताएँगी.....। बोली सहती है वह जो सात पर्दे में रहती है। हम क्यों सहें किसी की धौंस? हाथ पैर चलाती हैं तो खाती हैं। किसी की कमाई के भरोसे जिन्दा नहीं हैं <sup>[4]</sup>।” और इस चुनौती का आधार निर्द्वन्द्व विश्वास का पुख्तापन लिए वह जमीन है जो आखिरकार लुटी पिटी, थकी हारी, लाल बहू के मने में स्पृहा उगाती जाती है। ‘दुलरिया की माँ मुझे बार—बार याद आ रही है। बार—बार मुँह चिढ़ाती रही है वह, मानो कह रही हो कि बंधी रहो तुमलोग सात पर्दों में, ढोती रहो बाबू साहब खानदान की मर्यादा, घुट—घुट कर जीती रहो, लेकिन जिन्दगी यहाँ है, यहाँ है! गरीब मजदूर सही, लेकिन जिन्दगी यहाँ है <sup>[5]</sup>।”

स्त्री सदा गुलाम रहती है— कभी पिता की, कभी पति की, कभी पुत्र की। इस शास्त्रीय चिंतन से लेकर आज के नारी—मुक्ति आन्दोलन की समर्थक तमाम रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत उपन्यास अपनी चिंता को कुछ विशिष्ट सकारात्मक भंगिमा देता हुआ संकेत करता है कि निम्न मध्य वर्ग की स्त्रियों का कल्याण वर्गच्युति में है। उनकी जगह दुलरिया की माँ बगल में है न कि किसी दीगर मुकाम पर।

‘आग—पानी—आकाश—(1999) दिवाकर का एक बहुचर्चित उपन्यास है। यह उपन्यास दलित समाज, दलित मनोविज्ञान और समाज व्यवस्था में बदलते हुए रूपों को समझने का प्रामाणिक रचनात्मक प्रमाण है। प्रस्तुत उपन्यास के द्वारा उपन्यासकार ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि किस तरह दलितों में आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने की बेचैनी बढ़ रही है और किस तरह पढ़—लिखकर दलितों की एक बड़ी धारा अपनी भौतिक महत्वकांक्षाओं को पूरा करने में लग जाती है और इस प्रक्रिया में वह अपने मूल समाज से कट जाती है। एक छोटी सी धारा कोई बड़ी सफलता तो प्राप्त नहीं कर पाती, पर अपने दलित समाज के लिए संघर्षरत दिखती है। ‘टूटते दायरे’ दिवाकर का पाँचवा प्रकाशित उपन्यास है। वैसे लेखन की दृष्टि से यह उनका पहला उपन्यास है। इस उपन्यास में आजादी के बाद से उन्नीस सौ चौरासी तक के ग्रामीण जीवन में होने वाले परिवर्तनों का चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में उन्होंने दलित—समाज की आम नियति और नव धनाढ्य शोषक

वर्ग के अभ्युदय के पारस्परिक अंतर्विरोध को आज के हिन्दुस्तान की वर्ग संस्कृति के रूप में देखा है।

रामधारी सिंह दिवाकर का छठा प्रकाशित उपन्यास 'अकाल सन्ध्या' (2011) है। इसमें बदलते ग्रामीण जीवन का करुण चित्रण हुआ है। ग्रामीण जीवन के कुशल कथा-शिल्पी रामधारी सिंह दिवाकर का यह उपन्यास 'अकाल सन्ध्या' बदलाव की प्रक्रिया से गुजर रहे गाँवों का प्रमाणिक दस्तावेज है। ध्वस्त होती सामंती ग्रामीण व्यवस्था के बरअक्स जो नयी समाज व्यवस्था उभर रही है उसके शुभ-अशुभ पक्षों को कथाकार ने पूरी तरह तन्मयता से उकेरा है। स्थापित मानव-मूल्य टूट रहे हैं। लेकिन इनकी जगह जो नयी समाज व्यवस्था सामने आ रही है, उसमें सामाजिक मूल्यों की वापसी की दीप्ति और बदलाव के लिए बेचैन गाँव के इस नए मानस के अन्तर्विरोधों को कथाकार ने गहरी मानवीय संवेदनाओं से चित्रित किया है।

'जहाँ आपनो गाँव' कथावृत्तात्मक शैली में लिखे अपने गाँव के 'विकास' या बदलाव का संस्मरणात्मक उपस्थापन है। इसमें रामधारी सिंह दिवाकर अपने गाँव नरपतगंज के व्याज से उत्तर बिहार के गाँवों की वर्णगत, वर्गगत और लैंगिक विषमता को तो टारगेट करते ही हैं, साथ ही 90 के दशक में उभरी मंडलवादी राजनीतिक चेतना के प्रभाव स्वरूप अभिविचित्र जाति-समूहों में पनपी अधिकार चेतना को भी बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित करते हैं। 90 का दशक बिहार ही नहीं, पूरे उत्तर भारत के राजनीतिक इतिहास का सबसे उत्तेजक दौर रहा है। इसी दशक में मंडल और कमंडल आया, जिसके कारण पूरे देश में गृह युद्ध की स्थिति पैदा हुई। यही वह दौर है जब यहाँ बहुसंख्यक आबादी ने अपने अधिकारों का उपयोग करना सीखा। लेखक की ताकत है कि इन्होंने भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनों कालों से बदलते हुए गाँव-जवार को उसकी समग्रता में देखा-परखा है। गाँवों से खत्म होता 'गाँव', सामूहिक राग-विराग टूटते रिश्तों की अटूट डोर, जातिगत, लिंगगत गैर बराबरी, शहरीकरण, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार और संचार माध्यमों की अंधाधुंध दौड़ आदि प्रवृत्तियों की अपने कथा लेखन की तरह ही इन संस्मरणात्मक आलेखों में भी गहरी शिनाख्त की गई है।

### निष्कर्ष:

लेखक ने उपन्यास के जरिए बिहार के ही नहीं, अपितु पूरी भारतीय राजनीति के चित्र को उधेड़ा है, जिससे आप यह अंदाजा लगा सकते हैं कि राजनीति करने की मुहिम में आज हमारे गाँव किस कदर डूबे हुए हैं। .....पश्चिम की विस्तारवाद की नीतियों से लेकर भारतीय राजनीति और उसमें साँस लेते समाज की सशक्त अभिव्यक्ति है यह उपन्यास-'अकाल सन्ध्या' रामधारी सिंह दिवाकर का सप्तम प्रकाशित उपन्यास 'दाखिल-खारिज' (2013) है। गाँव की टूटती-बिखरती सामाजिक व्यवस्था में छीजते जा रहे मानवीय मूल्यों को कथान्वित करने वाला यह उपन्यास 'दाखिल-खारिज' रामधारी सिंह दिवाकर की निवनतम कथाकृति है। अपने छोटे हुए गाँव के लिए कुछ करने के सपनों और संकल्पों के साथ प्रोफेसर प्रमोद सिंह का गाँव लौटना और बेरहमी से उनको खारिज किया जाना आज के बदलते हुए गाँव का निर्मम यथार्थ है। यह कैसा गाँव है जहाँ बलात्कार मामूली सी घटना है। हत्यारे, दुराचारी, बलात्कारी और बाहुबली लोकतांत्रिक व्यवस्था और सरकारी तंत्र को अपने हिसाब से संचालित करते हैं। सुराज के मायावी सपनों और पंचायती राज-व्यवस्था में पंचायतों को प्रदत्त अधिकार धन की लूट के स्रोत बन जाते हैं। सीमान्त किसान खेती छोड़ 'मनरेगा' में मजदूरी को बेहतर विकल्प मानते हैं। ऐसे विकृत-विखंडित होते गाँव की पीड़ा को ग्रामीण चेतना के कथाशिल्पी रामधारी सिंह दिवाकर ने पूरी संलग्नता और गहरी संवेदना से उकेरने का प्रयास किया है। हिन्दी कथा साहित्य से लगभग बहिष्कृत होते गाँव को विषय

बनाकर लिखे गए इस सशक्त उपन्यास को 'कथा में गाँव के पूनर्वास' के रूप में भी देखा-परखा जाएगा, ऐसी आशा है।

### संदर्भ-सूची:

1. भारतीय गाँव का यथार्थ-मस्तराम कपूर, ग्रामीण जीवन का समाजशास्त्र, ले० जीतेन्द्र वर्मा, पृ०-124.
2. क्या घर क्या परदेश (उपन्यास), दिवाकर (प्र०से०) पृ०-68.
3. वही वही पृ०-72.
4. पंचमी तत्पुरुष (उपन्यास), ले० दिवाकर, पृ०-175-176.
5. वही, "पृ०-176.